भारत में समाजवाद की समकालीन प्रासंगिकता

बीज शब्द : *समाजवाद, राममनोहर लोहिया, भारतीय समाजवाद , अर्थ चिन्तन, सोशलिज़्म।*

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
शोध संचयन

औद्योगिक क्रान्ति की नकारात्मक परिस्थियों से समाजवादी विचारधारा का पादुर्भाव हुआ। पूरी दुनिया में पूँजीवाद के कारण बढ़ रही विषमता को मिटाने के लिए समाजवाद की ओर बड़ी आशा भरी नजरों से देखा गया। भारतीय आर्य चितंन में समाजवादी विचारों के अंत:सूत्र और बीज बिखरे पडे हैं। राम मनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायन जैसे नेताओं ने समाजवाद का भारतीय भाष्य प्रस्तुत किया। किन्तु पिछले साठ वर्षों की विचारयात्रा में समाजवाद पर तरह-तरह के प्रश्न खड़े हुए हैं। प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय समाजवाद की प्रासंगिकता के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करने का प्रयत्न है।

डॉ० नीलम चौरे
एसो०प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान
म०गॉ०चि०ग्रा०वि०वि०
चित्रकूट, सतना (म०प्र०)

यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में समाजवाद का उदय और उत्कर्ष एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। समाजवाद एक ऐसी विचारधारा है जो एक नवीन समाज और संस्कृति को जन्म देती है। समाजवाद का लक्ष्य 'एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें किसी व्यक्ति या जाति विशेष को कोई विशिष्ट अधिकार और शक्ति नहीं हो, अपितु सभी समानता और बंधुत्व के रूप में बंधे हो।'[1] ऐसे समाज में 'समाज' के सभी सदस्यों को समान रूप से विकसित करने का प्रयास किया जाता है। इसमें समाज को महत्त्व दिया जाता है, न कि व्यक्ति को। समाजवाद समानता को समतल करने वाला साधन है। यह समाज में न केवल राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समानता का पक्षधर है बल्कि उत्पादन के साधनों और पूँजी पर ऐसे नियंत्रण के पक्ष में है जिससे समाज के सभी वर्गो को समान रूप से लाभ हो और धन सम्पन्न और निर्धन लोगों का अन्तर दूर हो। समाजवाद का उद्देश्य समाज की आर्थिक शक्तियों का संगठन करना है और मनुष्यों द्वारा उसका नियन्त्रण करना है। यह भूमि, सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व का पक्षधर है। उन पर समस्त समाज का स्वामित्व हो, न कि किसी व्यक्ति विशेष का।

अंग्रेजी शब्द 'सोशलिज्म' के जन्म के बारे में विद्वानों में मतभेद है। सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग सन् 1803 ई0 में इटली में किया गया लेकिन इसका सन्दर्भ आधुनिक नहीं था। सन् 1827 ई0 में 'लंदन कोआपरेटिव मैगजीन' में इंग्लैण्ड के विचारक रार्बट ओवन के अनुयायियों को सम्बोधित करने के लिए इसका प्रयोग किया गया और इसके कुछ वर्ष बाद ही राबर्ट ओवन के अनुयायी अपने आपको 'समाजवादी' कहने लगे थे। सन् 1833 ई0 में फ्रांस की एक पत्रिका 'लेम्लोब' में सेण्ट साइमन के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया गया था। सन् 1840 ई0 तक 'समाजवाद' शब्द का समूचे यूरोप में प्रयोग होने लगा और व्यापक रूप से इसका अर्थ यह समझा जाने लगा कि उत्पादन के साधनों-पूंजी, भूमि अथवा सम्पत्ति पर समूचे समाज का नियन्त्रण अथवा स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रशासन सबके हितों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। यह अलग बात है कि गत 150 वर्षों में समाजवाद का विचार संसार के प्राय: सभी भागों में फैल चुका है और अब देश अथवा क्षेत्र विशेष की परम्पराओं के अनुरूप अरब समाजवाद, गाँधीवादी समाजवाद, जैसे शब्दों का भी प्रयोग देखने को मिलता है।

इस विचार के उद्भव में यूरोप के औद्योगिक क्रान्ति की नकारात्मक स्थितियाँ थी। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के

परिणाम स्वरूप कल-कारखानों में कार्यरत श्रमिकों की दयनीय दशा थी। उनके श्रम के घंटे अधिक थे, पर वेतन अत्यधिक कम। कारखानों में उनकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। औद्योगिक नगरों में वे ऐसे गंदे तथा तंग मकानों और झोपड़ियों में रहते थे, जो उनके स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त ही हानिकारक थे। स्त्रियों और बच्चों को भी कारखानों में काम पर लगाया जाता था। उनसे भी अधिक काम लिया जाता था। पर स्त्रियों को समान काम के लिये भी कम वेतन मिलता था। बच्चों की स्थिति दयनीय थी। श्रमिकों का जीवन अत्यन्त दुरूह हो गया था। उनका सामाजिक और नैतिक जीवन निम्न स्तर का था। ऐसे में जब वर्गों के बीच की असमानता अपने चरम पर पहुँच गयी तब यह विचार आया कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मिलकर काम करना और मिलकर जीवन की समान सुविधा प्राप्त करना आवश्यक है। समाज में बड़े शोषक वर्ग के द्वारा भले ही यह भ्रम फैलाया जाये कि आर्थिक विषमता भाग्य एवं पुनर्जन्म पर आधरित है, किन्तु समाजवाद की आवश्यकता का खण्डन नहीं कर सकता, परन्तु आज बड़ी तेजी के साथ समाज ने उनकी अज्ञानतामूलक विचारों को छोड़ना शुरू कर दिया है। जो लोग यह अनुभव करते हैं कि समाजवाद किसी व्यक्ति विशेष की शुभकामना का नतीजा है और यह मानते हैं कि कोई दमनकारी ताकत समाजवाद की ओर राष्ट्रों को बढ़ने से रोक सकती है, उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक चिंतन पर आधरित नहीं है। 'प्रत्येक राष्ट्र और समाज की विशेष आर्थिक परिस्थियों पर ही समाजवाद की स्थापना निर्भर करती है। यही कारण है कि पूँजीवाद ने समाज में जो असंगतियाँ पैदा की हैं, उसके निवारण के लिए लोगों को कोई उपचार चाहिए था।'[2]

समाजवाद कहता है, कि पैदावार के साधनों पर व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि पूरे समाज का, सरकार के माध्यम से स्वामित्व होना चाहिये। पूँजीवाद पूरे समाज के साथ मिलकर काम करता है, उत्पादन एवं वितरण का काम सामाजिक होता है परन्तु व्यवहार उसका स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में होता है। लाभांश उसी को पहुँचता है जो इस साधनों का स्वामी होता है। परिणाम यह होता है कि पूँजीवाद में केवल मेहनत करना श्रमिकों के पक्ष में हैं मेहनत का फल बटोरना पूँजीपतियों के पक्ष में है। परन्तु समाजवाद इस अर्न्तविरोध को समाप्त कर देता है। जब पूरा समाज मिलकर काम करता है, तो समाज ही पैदावार के साधनों का स्वामी भी होता है। समाज को ही उत्पादन के सारे लाभांश प्राप्त होते हैं।

समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है जो सार्वजनिक कल्याण पर जोर देती हैं। फ्रेड ब्रामले मानता है कि 'समाजवाद व्यक्तिगत हितों को सामाजिक हितों के अधीन बना देता है। समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा का विरोध करता है।'[3] पूँजीपति मजदूरों को श्रम का पूरा पारिश्रमिक नहीं दे पाते, मजदूर उसके बदले में उत्पादन में अपना पूरा श्रम नहीं लगाते। समाजवाद गरीबी एवं अमीरी का अन्तर कम करना चाहता है। इसलिये प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का ध्येय यह है कि सामाजिक व्यवस्था में अधिक से अधिक समानता लाई जाय। समाजवाद सबको समान करने वाला और एक स्तर पर लाने वाला सिद्धान्त है। समाजवादी विचारधारा स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक समानता को अधिक महत्त्व देता है। लास्की ने कहा है 'समाजवाद के अनुसार आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता व्यर्थ है।'[4]

समाजवाद के प्रसिद्ध लेखक एम0डी0 लैविलो ने अपनी पुस्तक 'सोशलिज्म टुडे' में समाजवाद का लक्षण प्रयुक्त करते हुये लिखा है कि 'प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का एकमात्र लक्ष्य समाजवादी दशाओं में विस्तृत पैमाने पर समानता स्थापित करना होता है तथा उन सिद्धान्तों को राज्य कानूनों के माध्यम से पूर्ण कराने का प्रयत्न करता है।'[5]

समाजवादी सिद्धान्त के प्रमुख तत्व निम्नवत् हैं:-

1- समाजवादी समाज वह है जहाँ उत्पादन और वितरण के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो, जहाँ राज्य समाज के प्रतिनिधि के रूप में इन साधनों पर नियंत्रण रखे तथा राज्य केवल व्यवस्था के रूप में स्थित रहे, लेकिन मार्क्सवाद पर आधरित समाजवाद राज्य उन्मूलन के पक्ष में है।

2- समाजवाद आर्थिक उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण की स्थापना करना चाहता है जिससे इनका उपयोग एक या कुछ व्यक्तियों के हित में नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के हित में है।

3- समाजवादी समाज में आर्थिक प्रगति का अर्थ केवल प्रचुर भौतिक साधन की उपलब्धि नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है कि इनका उपयोग मनुष्य के सुख, विकास, सम्मान और समृद्धि हेतु किया जाय।

4- समाजवादी समाज में राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्वतंत्रता को एक दूसरे का पूरक समझा जाता है। वास्तविक यह है कि वर्तमान विश्व में समाजवादी से रहित कोई भी वास्तविक लोकतन्त्र नहीं है।

5- समाजवादी समाज में व्यक्ति और समाज के मध्य एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। व्यक्ति समाज के आवश्यक यन्त्र के रूप में आर्थिक उपलब्धियों का सामूहिक रूप से उपयोग करता है।

6- समाजवाद का उद्देश्य मनुष्य की भौतिक समस्याओं से मुक्त कराकर उसे वास्तविक स्वतंत्रता का उपयोग करने और अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर देना है।

7- समाजवाद का लक्ष्य शोषण विहीन और वर्ग

विहीन समाज की स्थापना करना है।

8- समाजवाद जाति-पांति, ऊँच-नीच, वर्गभेद आदि में आस्था नहीं रखता है।

20वीं शताब्दी में समाजवादी विचारधारा अपने कई रूपों में विकसित हुई। यद्यपि उन समाजवादी विचारधाराओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

1- मार्क्सवादी समाजवाद

2- प्रजातान्त्रिक समाजवाद

(क) भारतीय समाजवादी चिन्तन का विकासः-

भारत में समाजवाद की संकल्पना अति प्राचीन है। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि सभी प्राणियों की सहज समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व सामाजिक संगठन का मूलाधार होती है। बौद्ध ग्रन्थ भी मानव एकता और भ्रातृत्व पर बल देते है। महाभारत में भी इस प्रकार के विचार मिलते हैं कि प्रारम्भिक काल में व्यक्तियों के मध्य भेदभाव की भावना का अभाव था, तथा उसे धर्म के अनुरूप माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी समाजवादी विचारों के मूल तत्व विद्यमान थे फिर भी आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के दर्शन के रूप में समाजवाद भारत में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप ही विकसित और लोकप्रिय हुआ।

आधुनिक भारतीय समाजवाद की झलक सर्वप्रथम श्री अरविन्द द्वारा 1893 ई0 में प्रकाशित लेखों में मिलते हैं। इन लेखों में उन्होंने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की मध्यम वर्गीय मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए देश के सर्वहारा वर्ग की दशा सुधारने की अपील की थी।

(ख) भारतीय समाजवाद की पृष्ठभूमिः-

भारतीय समाजवाद की पृष्ठभूमि ब्रिटिश शासन की शोषण नीति में निहित थी। सन् 1757 ई0 में अंग्रजों ने प्लासी युद्ध में विजयी होकर भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना की और सन् 1857 ई0 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम तक सम्पूर्ण भारत ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया। ब्रिटिश सरकार की शोषण नीति व पक्षपात पूर्ण नीति के विरोध में भारतीयों ने सन् 1857 ई0 में एक सशक्त विद्रोह किया, यद्यपि इस विद्रोह में भारतीयों को सफलता नहीं मिली, फिर भी पाश्चात्य विचारों के देश में आगमन, औद्योगीकरण, संचार व परिवहन के साधनों के विकास के फलस्वरूप भारत में नवजागरण प्रारम्भ हो गया।

महात्मा गाँधी ने लिखा है कि 'समाजवाद ही नहीं साम्यवाद भी उपनिषद के मन्त्र में स्पष्ट है। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि जगत में जो कुछ है वह सब ईश्वर द्वारा बनाया हुआ है, इसीलिये उसके नाम से त्याग करके तू भोग कर, किसी धन के प्रति लालसा न रख।'[7]

(ग) उन्नींसवीं शताब्दी में समाजवादः-

19 वीं शताब्दी के धार्मिक एंव सामाजिक सुधार आन्दोलन का भारत की राजनीति में विशेष स्थान है। इसके बहुमुखी स्वरूप एवं व्यापकता की दृष्टि से इस आन्दोलन को संघर्षपूर्ण आधुनिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। इस आन्दोलन ने भारत की तत्कालीन जड़ता को समाप्त किया और देश के जन-जीवन को झकझोर दिया। इसने जहाँ एक ओर धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों का आह्वान किया, वहीं दूसरी ओर इसने भारत के अतीत को उजागर कर भारतवासियों के मन में आत्म सम्मान और आत्मगौरव की भावना जगाने की कोशिश की। धार्मिक उपदेशों के साथ-साथ आन्दोलन के नेताओं ने स्वतन्त्रता और समानता का भी उपदेश दिया। 'भारत में समसामयिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में इस स्वतन्त्रता का अर्थ मात्र बौद्धिक चिन्तन की स्वतन्त्रता से ही नहीं, बल्कि असमानता, शोषण और अत्याचार से मुक्ति भी था।'[8]

भारत पर अंग्रेजों की विजय ने भारतीय समाज की कमजोरियों एवं गिरी हुई हालत को स्पष्ट कर दिया। अतः कुछ विचारशील और बुद्धिमान भारतीयों ने देश की दुर्दशा, पिछड़ेपन, और विदेशियों के समझ अपनी पराजय के कारणों की खोजबीन शुरू की तथा देश के उद्धार के लिए प्रयत्न करने लगे। वैसे अधिकांश भारतीय अभी भी परमपरागत विचारों, रीति-रिवाजों एवं संस्थाओं में विश्वास जमाये बैठे थे, लेकिन उनमें से कुछ ने सम्पर्क में आते ही पश्चिम के नये विचारों एवं ज्ञान के महत्त्व को पहचाना। पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान, बुद्धिवाद के सिद्धान्त और मानववाद का इन प्रबुद्ध भारतीयों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे इस नये ज्ञान एवं सिद्धान्तों की सहायता से अपने समाज की भलाई में लग गये, इसमें समाज के विभिन्न वर्गों को अपना निजी हित भी नजर आया। 'नये समाजिक वर्ग जैसे पूंजीपति वर्ग, श्रमजीवी वर्ग और आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग पाश्चात्य विचारों एवं ज्ञान को इसलिए अपनाना चाहते थे ताकि उनसे देश का आधुनिकीकरण हो और इस विभिन्न सामाजिक वर्गों की स्वार्थ सिद्धि हो सके। धीरे-धीरे बाकीं भारतीयों पर इन पाश्चात्य विचारों का प्रभाव पड़ा क्योंकि भारतीय उत्तरोत्तर यह महसूस करते गये कि पश्चिमी विचार केवल पश्चिमी समाज के लिए ही नहीं, बल्कि भारत सहित सम्पूर्ण मानव जाति के लिए भी उपयोगी थे। परिवर्तन विश्व का शाश्वत नियम है। यह परिवर्तन मानव जीवन तथा मानव-समाज के अन्धविश्वासपूर्ण प्रयासों तथा रूढ़ियों का विनाश करता हुआ समाज को चरम विकास की ओर अग्रसर करता जा रहा है।

जिन प्रयासों तथा संस्थाओं का प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण स्थान था, वह अब इतिहास की वस्तु बनकर रह गयी है, उनके स्थान पर नवीन विचारों पर आधारित नवीन संस्थाओं का विकास एवं स्थापना हुई है। इस प्रगतिशील विश्व के साथ जो शक्तियाँ, प्रथाएं एवं संस्थाएं उन्नतिशील होकर समय के अनुसार नहीं चल सकी वह निश्चित रूप से पीछे रह गयी है। कालान्तर में उनके अन्दर अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे उनके प्रति सार्वजनिक विरोध प्रारम्भ हो जाता है। कुछ समय में ही विरोधी वर्गों की संख्या में वृद्धि होने लगी है और उन संस्थाओं को विनाश की ओर अग्रसर होना पड़ता है। उनके स्थान पर मनुष्य ऐसी संस्थाओं को जन्म देते हैं जो समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और साथ में, प्राचीन संस्थाओं के दोषों से भी मुक्त हो सकें।

विश्व के परिवर्तन सम्बन्धी नियमों को लगभग सभी चिन्तक, समाज-सुधारक, दार्शनिक इत्यादि स्वीकार करते हैं। वे अच्छी प्रकार से जानते हैं कि भूतकाल में बहुत से परिवर्तन हुए हैं और मनुष्य की दशा समय की प्रगति के साथ-साथ परिवर्तित होती रहीं हैं। परन्तु राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर विचार करते समय वह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं सिद्धान्त को भूल जाते हैं। विशेषत: वे इस तथ्य को सुगमतापूर्वक नहीं स्वीकार करते हैं कि वर्तमान सामाजिक अवस्था से भिन्न एक दूसरी सामाजिक दशा भी हो सकती है। इसलिए वे एक नवीन सामाजिक आदर्श के मूल्य का उचित ढंग से अनुमान नहीं लगा पाते हैं।

मानव इतिहास एक निरन्तर प्रगति का दस्तावेज है जिसके विभिन्न युग अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के असमानता के कारण एक दूसरे से पृथक हैं। विकास कृत्रिम अथवा आकस्मिक नहीं हुआ करता, वरन् यह स्वाभाविक तथा वास्तविक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। वर्तमान सामाजिक प्रणाली ही विकास की अंतिम सीमा नहीं है। इसके पश्चात् एक नवीन प्रणाली का स्थानापन्न होना स्वाभाविक है। साथ ही साथ उन भावी प्रणालियों को क्रियात्मक रूप देने वाली शक्तियां पूंजीवाद की नींव को खोखला करने में कार्य अवश्य करती रही हैं।

यह परिवर्तन की प्रक्रिया स्वाभाविक होती है, परन्तु इस परिवर्तन को एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर करने का कार्य चिन्तकों का होता है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। एक पुरानी व्यवस्था को नवीन आधार प्रदान करने के लिये आदर्श सिद्धान्तों की आवश्यकता होती हैं जिनके आधार पर नयी व्यवस्था, नयी संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। इसके संदर्भ में समकालीन चिन्तकों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है, जिनके सिद्धान्तों को भविष्य में क्रियात्मक रूप दिया जाता है। सम्पूर्ण आदर्श को व्यवहार रूप में पूर्ण रूपेण क्रियान्वित नहीं किया जा सकता है। डॉ0 राम मनोहर लोहिया भारत में समाजवादी आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। वे समाजवादी विचारकों के 'उग्र प्रचारक' माने जाते थे। वे गांधीवादी समाजवाद के समर्थक थे। गांधीवाद और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को मिलाकर डॉ0 लोहिया ने भारतीय समाजवाद का निर्माण किया। उन्होंने प्राचीन समाजवाद को एक मृत सिद्धान्त और 'कल की बात' कहा और उसके स्थान पर एक नवीन समाजवाद की वकालत की। उनके अनुसार इस समाजवाद के तीन मुख्य तत्व थे।

1 सभी उद्योगों व बैंको तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण।

2 समूचे संसार में जीवन स्तर का सुधर।

3 एक विश्व संसद की स्थापना।

नया समाजवाद आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में था। डॉ0 लोहिया का विश्वास था कि यह समाजवाद सहकारी श्रम और ग्राम सरकार के माध्यम से व्यावहारिक रूप धारण कर सकता है। सन् 1952 ई0 में कांग्रेस ने समाजवादी चिन्तन में अधिक स्थान देने की बात कही। उन्होंने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। डॉ0 लोहिया समाजवादी विचार धारा के जोशीले प्रवक्ता थे।

जय प्रकाश नारायण मानते थे कि 'समाजवाद आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त है। समाजवाद का उद्देश्य समाज का समन्वित विकास करना है। समाज में जो घोर असमानता विद्यमान है, उसका मुख्य कारण यही है कि उत्पादन के साधनों पर मुठ्ठी भर व्यक्तियों का एकाधिकार है। यदि ये साधन प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध करा दिये जायें तो वर्तमान दरिद्रता और आर्थिक विषमताएँ बड़ी सीमा तक समाप्त हो जायेंगी बशर्ते कि जनसंख्या को एक निश्चित सीमा से आगे न बढ़ने दिया जाय।'[9] समाजवाद का मुख्य आधार या लक्ष्य उत्पादनों के साधनों का समाजीकरण है। जिसके द्वारा धन के विषम वितरण और शोषणजनित बुराइयों को दूर किया जा सकता है। जयप्रकाश नारायण की यह मान्यता थी कि 'समाजवाद भारतीय संस्कृति की विरोधी नहीं है। भारतीय संस्कृति के मूल्यों को पूरी तरह सुरक्षित रखते हुये भी हम देश में समाजवाद ला सकते हैं। भारत में भाई-चारे और सहयोग को सदैव सर्वोपरि सम्मान दिया गया है। प्राचीन भारत का ग्रामीण जीवन बहुत कुछ समाजवादी ही था।'[10] यदि हम भारतीय समाजवाद की विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करें तो यह निश्चित रूप से पाश्चात्य अवधारणा से भिन्न दिखाई पड़ेगा। भारतीय समाजवाद का इतिहास दर्शन वस्तुत: वेदान्त के दर्शन से प्रभावित है। और इस प्रकार वह काल मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या के विरुद्ध है। प्रारम्भिक समाजवादी चिन्तकों ने वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया जिसकी झलक हमें मनु,

कौटिल्य, गांधी जी के विचारों में मिलती है। किन्तु विवेकानन्द, डॉ लोहिया, जयप्रकाश नारायण जातिवाद और अस्पृश्यता की तीव्र आलोचना करते हैं तथा प्रत्येक मानव को समान मानते हैं। वस्तुत: मानववाद सम्पूर्ण भारतीय समाजवादियों का मुख्य केन्द्र रहा है। यह न केवल श्रमिकों एवं मजदूरों का ही, बल्कि दलित, गरीब, शूद्रों के साथ-साथ समस्त मानव के उत्थान की विचारधारा है।

समाजवाद और उसके स्वरूप की स्थापना राष्ट्रों की विभिन्न परिस्थितियों पर आधारित है। सभी राष्ट्रों में समाजवाद के एक ही स्वरूप को स्थापित नहीं किया जा सकता। समाजवाद के लिए राष्ट्र का लोकतान्त्रिक स्वरूप होना चाहिए। लोकतन्त्र के अभाव में समाजवाद की स्थापना करना असंभव है, बल्कि एक नये अधिनायकवाद का जन्म होता है जिसे 'समाजवादी अधिनायकवादी' (सोशलिस्टिक डिक्टेटरशिप) की संज्ञा दी जानी चाहिए जो कि चीन में आज भी मौजूद है।

उपसंहार-

भारत के सामाजिक सन्दर्भ को देखते हुए सही समाजवादी चिन्तन के मार्ग में कई बाधायें हैं। भारत एक बहुजनसंख्या वाला देश है। चीन की समाजवादी क्रान्ति के बाद कुछ राजनीतिक विचारकों द्वारा यह सम्भावना व्यक्त की जाने लगी है कि यहाँ भी उसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो। भारत में धर्म और जाति के बन्धन प्रबल हैं और मध्ययुग के सुधारवादी आन्दोलनों से लेकर आज तक के संवैधानिक प्रयत्न उस परम्परागत ढाँचे में अधिक परिवर्तन नहीं कर सके हैं। जातियों के भीतर हजारों उपजातियाँ समाज को विभाजित अवस्था में रखती हैं और उससे वर्गीय चेतना का निर्माण नहीं हो पाता जिससे समाजवादी आन्दोलन को गति मिलती है। जातियों के बन्धन भारत की वर्गीय चेतना को बराबर कमजोर करते रहे हैं, इसे ध्यान में रखकर लोहिया जैसे प्रखर समाजवादी 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाने की बात करते थे। उनका कहना था कि देश के सवर्ण छोटी और पिछड़ी जातियों पर बराबर हावी रहे हें, पूरे समाजतन्त्र पर उन्हीं का वर्चस्व रहा है। जब तक भारतीय जातिप्रथा नही टूटती, जब तक एक वर्गीय चेतना का निर्माण नहीं होता और समाजवाद केवल सैद्धान्तिक चर्चा का विषय बनकर रह जायेगा। वर्ग की बात करते हुए यह भी विचारणीय है कि भारतीय समाजवादी चिन्तन वर्गसंघर्ष का विकल्प खोजने की चेष्टा करता रहा है। सामाजिक चेतना का विकास, संगठित जन-आन्दोलन, किसान, मजदूर और छात्रों का मोर्चा यहाँ तक कि घेराव, हड़ताल आदि के कार्यक्रम व्यवस्था को बदलने के उपाय के रूप में काम में लाये जाते रहे हैं, पर पूंजी के सहारे राजनीति में प्रवेश करने वाले निहितस्वार्थ नौकरशाही से मिलकर ऐसा भी करते आये हैं कि कागज पर समाजवादी कार्यक्रम तो बने पर उन्हें अमल में न लाया जा सके। आजादी के बाद भारतीय समाज में, समाजवाद की बार-बार चर्चा के बाबजूद असमानता बढ़ी है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। इन परिस्थितियों में भारत में सामान्य जन का मोहभंग हुआ है और इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता है कि वे अधिक उग्र ढंग से सोचने लगे और तब भारतीय समाजवादी चिन्तन के सामने नये प्रश्न खड़े होंगे और उसे क्रान्ति-सम्बन्धी अपनी धरणा पर पुनर्विचार भी करना पड़ सकता है।

कोई भी राजनीतिक दर्शन केवल चिन्तन के आधार पर बहुत दूर तक नहीं जा सकता। उसे गति देने के लिए आवश्यक है कि उसका क्रियान्वयन किया जाये, इसके लिए राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति भी आवश्यक है। भारत के समाजवादी दल, यहाँ तक कि साम्यवादी भी प्राय: विरोध की राजनीति में रहे हैं और अल्प समय के लिए जब उन्हें सत्ता में आने का अवसर मिला तब भी वे अपनी योजनाओं को पूरी तरह लागू नहीं कर पाये। तब समाजवादी केन्द्र तथा प्रान्तों में शासन में भाग लेते रहे तब भी विभिन्न घटकों के दबावों में वे समाजवादी कार्यक्रमों को लागू नहीं कर पाए। भारतीय राजनीति का एक तथ्य यह भी है कि हर राजनीति दल समाजवाद का नारा लगाता है पर इसके पीछे उद्देश्य सत्ता-प्राप्ति का भी रहता है। ऐसे अवसरों पर समाजवाद राजनीति का लक्ष्य बन जाता है और 'गरीबी हटाओ' जैसे नारे भी समाजवाद को आगे नहीं बढ़ा पाते। भारतीय समाजवादी चिन्तकों ने विचार और कर्म की दूरी कम करने पर बराबर बल दिया है क्यों कि वे जानते हैं कि यदि राजनीति दर्शन केवल चर्चा का विषय बनकर रह जाता है तो समाज पर उसका व्यापक प्रभाव नहीं होगा। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय समाजवादियों ने सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए जो कुछ सोचा उसमें उन्होंने भारतीय सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखा है। इस दृष्टि से हम भारतीय समाजवादी चिन्तन को 'देशी समाजवाद' कह सकते हैं। पर कठिनाई यह है कि एक तो उस पर नैतिक आग्रहों का दबाब है दूसरी ओर समाजवादियों को इतना अवसर नहीं मिला कि वे अपने कार्यक्रमों को लागू कर सकें। राममनोहर लोहिया ने आन्दोलन की राजनीति अपनाई और उससे एक वातावरण तो बना पर उनके चले जाने के बाद उसकी गति धीमी पड़ गई।

किसी समय किसान, मजदूर भारतीय समाजवादी चिन्तन के केन्द्र में थे पर धीरे-धीरे मध्यवर्ग उसमें रुचि लेने लगा। अधिकांश समाजवादी चिन्तक भी इसी वर्ग से आये है यद्यपि कार्यकर्ताओं में दूसरे वर्ग के लोग भी सम्मिलित हैं। अपने वर्गीय चरित्र को बहुत जल्दी छोड़ देना आसान नहीं होता और मध्यवर्ग की भूमिका पर विद्वानों ने कभी अच्छी टिप्पणी नहीं की, यहाँ तक कि जवाहरलाल नेहरू तक ने मार्क्सवादी दृष्टि से विचार

किया है। मध्यवर्ग की समझौतावादी नीति क्रान्ति को बहुत आगे नहीं बढ़ने देती क्योंकि वह सर्वहारा और पूंजीपति के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करते हुए अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। उसके साधन सीमित होते हैं पर उसकी आकांक्षायें बड़ी होती हैं। समाज में अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए कई बार वह क्रान्तिकारी बातें करता हैं पर जब निर्णय का क्षण आता है तब वह लड़खड़ा जाता है और उच्चवर्ग से समझौता कर लेता है। इस प्रकार क्रान्ति शब्दों तक सीमित रह जाती है और वह छोटे-मोटे सुधारों से आगे नहीं बढ़ पाती। फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन जैसे देशों में जहाँ कि पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली है वहाँ औद्योगिक विकास और पूंजीवाद के बावजूद समाजवाद संसदीय लोकतान्त्रिक प्रणाली से आगे नहीं बढ़ पाया। भारतीय समाजवादी चिन्तन के सन्दर्भ में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि किस प्रकार सम्पूर्ण राजनीतिक क्षेत्र में सामाजिक चिन्तन पर अपना प्रभाव डाला है। आज स्थिति यह है कि पिछले लगभग साठ वर्षों की भारतीय समाजवाद की यात्रा के बाद भी उसके विषय में तरह-तरह के प्रश्न उठाये जा सकते हैं। संसार के सब साम्यवादी देशों की बात न की जाये तो भी रूस और चीन की प्रगति को देखकर सामान्य जन के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारत जैसे बड़े देश के लिए क्या लोकतन्त्र पर आधारित समाजवाद एक आदर्श व्यवस्था है और यहां कि परिस्थितियों में उसके माध्यम से सामाजिक नवनिर्माण किया जा सकता है? साम्यवादी देशों की सर्वसत्तात्मक व्यवस्था में जो तेजी से प्रगति होती है, उसमें भारत ही नहीं एशिया-अफ्रीका के देशों कों भी प्रभावित किया है। 1980 के मध्यावधि चुनाव में इन्दिरा कांग्रेस को दो-तिहाई बहुमत मिला है, पर पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी जीते हैं यह खतरा भी मौजूद है कि सारे प्रयत्नों के बावजूद भारत के पिछड़े समाज में समाजवाद के प्रति मोहभंग हो और इसका अनुमान करके ही जवाहरलाल नेहरू ने चीनी आक्रमण के समय कहा था कि एशिया में प्रजातन्त्र का दीपक बुझने का खतरा है। भारतीय समाजवादी चिन्तन को अधिक ठोस भूमि अपनानी होगी और बदलती परिस्थितियों में उसे एक गतिशील जीवन दर्शन के रूप में विकसित करना होगा। व्यर्थ के नैतिक आग्रहों से मुक्त होकर, आदर्शवाद के स्थान पर उसे एक यथार्थवादी दृष्टि अपनानी होगी और अधिकाधिक लड़ाकू भी बनना पड़ेगा ताकि वह पढ़े-लिखे वर्ग में केवल सैद्धान्तिक चर्चा का विषय बनकर न रह जाये बल्कि उसे सामान्य जनता का पूरा विश्वास भी मिले। स्वयं को जीवित रखने के लिए उसे राजनीतिक सत्ता प्राप्त करनी होगी और अपने कार्यक्रम को एक निश्चित समय के भीतर क्रियान्वित भी करना होगा।

सन्दर्भ :

1. आचार्य नरेन्द्र देव, 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', प्रथम संस्करण संवत 2006 तृतीय संस्करण संवत 2030 ज्ञान मण्डल लि0, बनारस।
2. आचार्य नरेन्द्र देव, 'समाजवाद और क्रान्ति', शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा, प्रथम संस्करण, 1946।
3. आचार्य नरेन्द्र देव, 'समाजवाद-लक्ष्य और साधन', ज्ञान मण्डल लि0 बनारस, प्रथम संस्करण, संवत 2008।
4. इन्दुीप, 'सम्पूर्ण क्रान्ति' कम्युनिस्ट प्रकाशन, कानपुर 1974।
5. ओंकार शरद 'डॉ0 लोहिया', राजरंजना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967।
6. ओंकार शरद (सं0), 'डॉ0 लोहिया के विचार', लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1969, इलाहाबाद,।
7. ओंकार शरद 'इतिहास चक्र', (डॉ0 लोहिया की पुस्तक 'व्हील ऑफ हिस्ट्री' का हिन्दी में अनुवाद) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998।
8. कोलकर, इन्दुमति, 'लोहिया-सिद्धान्त और कर्म' नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, 1963।
9. गांधी, मोहनदास कर्मचन्द्र, 'गांधी साहित्य' सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1950।
10. गांधी मोहनदास कर्मचन्द्र, 'गांधी-आत्मकथा', सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1970।
11. गांधी, मो0दा0कर्मचन्द्र, 'मेरा समाजवाद', नव जीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1959।
12. गांधी, मोहनदास कर्मचन्द्र, 'सर्वोदय' (रास्किन की कृति अन्टू दिस लास्ट का सार), सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998।
13. गांधी मोहनदास कर्मचन्द्र, 'अपरिग्रह ओर अनसक्ति', (सम्पादक-यशपाल जैन) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998।
14. गैटिल, 'राजनीतिक चिन्तन का इतिहास' (अनुवादक-सत्य नारायण दुबे) लक्ष्मी नारायण लाल, आगरा, 1960।
15. जैन, यशपाल, गांधी दर्शन', सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998।

◆◆◆

प्रकाशन शोध प्रक्रिया का अंतिम और अत्यंत महत्त्वपूर्ण चरण होता है। शोध समाज की मूल्यवान उपलब्धि है। इसे समाज के बीच आना ही चाहिए जिससे समस्त मानवता लाभ उठा सके। प्रकाशन के सीमित अवसर शोध को संकुचित करते हैं।